ARYAVART SHODH VIKASH PATRIKA
RNI TITLED No. UPBIL04292
RNI REG. No. UPBIL/2014/66218
Vol-5, No.-II,PP-105-110, Issues-VI YEAR-Dec.2016

"संस्कृत साहित्य का नैतिक परिप्रेक्ष्य तथा आश्रम व्यवस्था"

मनीष पाण्डेय

वरिष्ठ प्रवक्ता, (संस्कृत विभाग) जवाहरलाल नेहरू मेमो0 पी0जी0 कॉलेज, बाराबंकी (उ0प्र0) भारत

संस्कृत साहित्य में धर्म, श्रृंगारादि की सतत् प्रवहमान धाराओं के साथ–साथ नीति की धारा भी प्रारम्भ से ही अविरल रूप से बहती रही है। इस क्षेत्र में भारतीयों के नैतिक अध्ययन एवं विवेंचन के महत्त्व को प्रायः समस्त लब्धप्रतिष्ठ प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। अस्तु, संस्कृत काव्य में नीतितत्व की विविधता, व्यापकता एवं बहुरूपता एक व्यापक संदर्श है। सम्भवतः संसार में कोई ऐसा सामान्य बुद्धिसम्पन्न मनुष्य, स्त्री या पुरुष नहीं है, जो नैतिक तथ्यों को प्रकट करने वाले शब्दों का व्यवहार नहीं करता। जहां मनुष्य है, वहां समाज की अवस्थिति है, साथ ही समाज का अस्तित्व निश्चय ही नैतिक मूल्यांकन के अस्तित्व से सहचरित है।

लौकिक संस्कृत साहित्य तो नीति का भण्डार है जहां जीवन के मार्गदर्शक तत्त्व अनायास दृष्टिगोचर हो जाते हैं। आर्श महाकाव्यों–रामायण तथा महाभारत को नीति के अक्षय एवं अनुपम भाण्डागार के रूप में समादृत किया गया है। महाभारत तो नीतिशास्त्र का विश्वकोष की कहा जा सकता है। धौम्यनीति, विदुरनीति, भीष्मनीति तथा विदुलोपाख्यान आदि महाभारत की ही श्लाघनीय सम्पत्ति हैं। इन आदर्श काव्यों से व्यतिरिक्त कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ आदि महाकवियों द्वारा रचित महनीय ग्रन्थों में भी नीति सम्बन्धी तथ्य यत्र–तत्र प्राप्त होते हैं। जहां संस्कृत काव्य नैतिक आदर्शों का भण्डार हैं, वहीं ये मानव समाज के आचार–विचार का भी लेखा जोखा हैं, जिनके प्रत्येक पृष्ठ पर तात्कालिक युग की सामाजिक, राजनीतिक, आचार सम्बन्धी एवं नैतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बिखरी हुई है। भारतीय मनीषियों ने जीवन को सार्थक बनाने के लिए चार पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की कल्पना की थी जिनमें प्रथम तीन पुरुषार्थ साधन रूप से तथा अंतिम साध्य रूप से व्यवस्थित था। मोक्ष रूप साध्य हेतु जीवन का विकास और परिपक्वता आवश्यक है, और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय विद्वानों ने आश्रम संस्था की व्यवस्था की। आश्रमों की यह व्यवस्था मनुष्य को वास्तविक अर्थ में पूर्णप्राय मनुष्य बनाकर समाज को अपने उद्दिष्ट लक्ष्य तक पहुंचाने में अपूर्व योगदान करती है। जीवन में प्रत्येक कर्त्तव्य की सिद्धि हेतु मनुष्य को किसी न किसी वैचारिक आदर्श की प्रस्थापना करनी होती है अथवा प्रस्थापित वैचारिक आदर्शों का अनुपालन करना होता है, जो उसके व्यावहारिक जीवन को सुखमय बनाने में अपना अमूल्य योगदान प्रस्तुत करता है। आश्रमव्यवस्था में निहित जीवन इसका एक सुंदर उदाहरण है।

सरस्वती के उपासक प्राचीन मनीषियों ने अपनी अगाध अन्तृचेतना एवं मनन के द्वारा उपलब्ध जीवन की गहन अनुभूतियों को समाज के लिए नीति के रूप में प्रस्तुत करने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। संस्कृत साहित्य में धर्म, श्रृंगारादि की सतत् प्रवहमान धाराओं के साथ–साथ नीति की धारा भी प्रारम्भ से ही अविरल रूप से बहती रही है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में नीति सम्बन्धी उक्तियों अथवा सूक्तियों की कमी नहीं, जिनमें मानव समाज को व्यावहारिक निर्देश देने, पतन से उठाने तथा चारित्रिक अभ्युदय के प्रति अग्रसर होने के उपदेश न हों। इस क्षेत्र में भारतीयों के नैतिक अध्ययन एवं विवेचन के महत्त्व को प्रायः समस्त लब्धप्रतिष्ठ प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। अस्तु, संस्कृत काव्य में नीति

अनुरूपी लेखक

ISSN No. 2347-2944 ASVT Society Reg. No. 561/2013-14

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 681/2013-14

तत्व की विविधता, व्यापकता एवं बहुरूपता एक व्यापक संदर्श है। प्रकृति–प्रत्यय की दृष्टि से नीति शब्द 'नी' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ है–ले जाना। अर्थात् जो मानव को सन्मार्ग पर ले जाय, वही नीति है। मानव–जीवन अत्यन्त विशाल एवं गहन होता है, तथा उसकी उतनी ही दिशाएं एवं विविधता मानव के जीवन–मार्ग को कण्टकाविद्ध किये रहती हैं। अतः व्यापक संदर्श में नीति वह है, जो मानव की सर्वतोभावेन उन्नति–पीठिका व्यवस्थित कर, उसे सन्मार्ग पर अग्रसर होने के लिए मार्गदर्शिका की भूमिका निभाती है।

आवश्यकता ही समाज में किसी वस्तु के सूत्रपात का कारण होती है– **"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते"**। नीति का उदय भी समाज के हित को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है। सम्भवतः संसार में कोई ऐसा सामान्य बुद्धिसम्पन्न मनुष्य, स्त्री या पुरुष नहीं है, जो नैतिक तथ्यों को प्रकट करने वाले शब्दों का व्यवहार नहीं करता। जहां मनुष्य है, वहां समाज की अवस्थिति है, साथ ही समाज का अस्तित्व निश्चय ही नैतिक मूल्यांकन के अस्तित्व से सहचरित है। मनुष्य की यह सदैव अभिलाषा रहती है कि वह अपने प्रयत्नों एवं साधनों को उचिततम दिशा में लगाए तथा अपने जीवन को अधिक से अधिक सफल एवं समुन्नत करे। जीवन के अनुभवों की अभिवृद्धि के साथ ही उसे आभासित होने लगता है कि उसे अपनी अभिरुचियों के सम्बन्ध में सतर्क होना चाहिए तथा परिणामतः अपनी प्रवृत्तियों पर अधिक नियंत्रण रखना चाहिए। संघर्षमय जीवन की विभिन्नताओं, आशाभंगों, तथा असफलताओं की अनुभूति उसे यह विचार करने के लिए बाध्य कर देती है कि सफल जीवन–यापन के सिद्धान्त क्या हैं ? जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ? जीवन के समुचित यापन के सुगम मार्ग का निरन्तर चिन्तन एवं अन्वेषण नैतिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों को जन्म देता है।

संस्कृत साहित्य में नीति तत्व पूर्ण रूप से विकसित अवस्था में उपलब्ध होता है। निर्देश, उपदेश, सूक्ति, अन्योक्ति तथा औपदेशिक कथाओं से संवलित विकास की विभिन्न अवस्थाओं में नीति के दर्शन होते हैं। नीति के विकास का यह क्रम अत्यन्त स्वाभाविक भी प्रतीत होता है। आरम्भ में किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके उसके आचरण एवं कर्त्तव्यों के अनुकूल तथ्यों को प्रतिपादित किया जाता है। शनैः शनैः उपेदष्टा के मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि समाज के सभी व्यक्ति उसके सुविचारित मार्ग का अनुसरण करें। उसके उपदेश व्यक्ति विशेष के लिए न होकर समस्त संसार की निधि के रूप में प्रतिष्ठित हों। क्रमशः इस धारणा का आविर्भाव होना नितान्त स्वाभाविक है कि उनके उपदेश असंगत एवं असंयत भाषा में न होकर अत्यन्त सुव्यवस्थित उदाहरणों से प्रमाणित एवं पुष्ट किए गए हों।

नीति के विकास की अग्रिम अवस्था से यह आभास मिलता है कि उपदेश की यह प्रणाली कुछ व्यक्तियों के लिए अरुचिकर प्रतीत होती थी एवं उपदेश ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की संख्या में अत्यधिक न्यूनता भी आ रही थी। एतदर्थ पशु पक्षियों को लक्ष्य करके दिए गए नीति के उपदेश व्यक्ति विशेष के व्याज का अवलम्बन करते हैं। पुनः सृष्टि के आदि काल से ही कथा के कहने और सुनने की प्रवृत्ति अविच्छिन्न रूप से प्रचलित है। आकर्षक ढंग से कथा को कहकर उसके निष्कर्षस्वरूप नीति की सूक्तियों से उसे गुम्फित करना, उसकी मनोरमता एवं शोभा की अभिवृद्धि करता है। स्पष्ट है कि इन विभिन्न अवस्थाओं में होकर नीति क्रमशः विकासशील रही है तथा समाज की प्रक्रिया एवं नैतिक मूल्यों को लक्ष्य में रखकर उसे समय के अनुकूल परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ प्रस्तुत किया जाता रहा है।

मानव एक मननशील सामाजिक प्राणी है। निसर्गसिद्ध संस्कारों की सहायता से वह विभिन्न परिस्थितियों में एक दूसरे के सम्पर्क में आकर सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। आत्मरक्षण एवं एकत्रित रहने की प्राकृतिक प्रवृत्तियों का इस संगठन में विशेष योग रहता है। मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति के मूल में उसकी मूलभूत आवश्यकताएं मानी जाती हैं। इस जीवन का आधार पारस्परिक सहयोग एवं सेवा–विनिमय

हैं, जिनसे प्रेरित होकर तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में आत्मरक्षण को कठिन मानता हुआ मानव अपने को सामाजिक एकता के सूत्र में आबद्ध करने की चेष्टा करता है।

समष्टि भावना को सामाजिक जीवन का प्राण तथा मौलिक सिद्धान्त माना जा सकता है। अन्य के साथ स्वहित सम्पादन की भावना का ही नाम समष्टि भावना है। स्वभावतः वैयक्तिक स्वार्थों में लिप्त मनुष्य के समक्ष समष्टि भावना का आदर्श नितरां महान् है। यही कारण है कि समाज की उन्नति एवं रक्षा के लिए इस भावना की अनिवार्यता का अनुभव समय समय पर किया जाता रहा है। समष्टिमूलक मानव जीवन में पारस्परिक सम्पर्क एवं सहयोग नितान्त अपेक्षित हैं। मानव का व्यावहारिक ज्ञान ही इस सम्पर्क को सुन्दर एवं सफल बनाने में सार्थक होता है।

लौकिक संस्कृत साहित्य तो नीति का भण्डार है जहां जीवन के मार्गदर्शक तत्त्व अनायास दृष्टिगोचर हो जाते हैं। आर्ष महाकाव्यों–रामायण तथा महाभारत को नीति के अक्षय एवं अनुपम भाण्डागार के रूप में समादृत किया गया है। महाभारत तो नीतिशास्त्र का विश्वकोष की कहा जा सकता है। धौम्यनीति, विदुरनीति, भीष्मनीति तथा विदुलोपाख्यान आदि महाभारत की ही श्लाघनीय सम्पत्ति हैं। इन आर्ष काव्यों से व्यतिरिक्त कालिदास, अश्वघोश, भारवि, माघ आदि महाकवियों द्वारा रचित महनीय ग्रन्थों में भी नीति सम्बन्धी तथ्य यत्र–तत्र प्राप्त होते हैं। जहां संस्कृत काव्य नैतिक आदर्शों का भण्डार हैं, वहीं ये मानव समाज के आचार–विचार का भी लेखा जोखा हैं, जिनके प्रत्येक पृष्ठ पर तात्कालिक युग की सामाजिक, राजनीतिक, आचार सम्बन्धी एवं नैतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बिखरी हुई है।

तात्कालिक आर्य एवं अन्य समाज के आचार–व्यवहार, रीति–रिवाज, कला–कौशल, लौकिक एवं पारलौकिक महत्वाकांक्षाओं आदि को यदि संस्कृत काव्यों में ढूंढा जाय, तो निश्चय ही हमारा अध्ययन अत्यन्त रोचक एवं हृदयग्राही हो सकता है। मानव व्यवहार के क्षेत्र में निरपवाद नैतिक सिद्धान्त अथवा आदर्श भले ही प्राप्त न किए जा सकते हों, किन्तु नैतिक व्यवहार के नियमन हेतु समाज के आधार स्तम्भों यथा पारिवारिक जीवन, वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था आदि को गहनता में समझने की आवश्यकता है। आश्रमव्यवस्था के नैतिक आदर्शों का अनुशीलन, भारतीय संस्कृति के सामान्य दृष्टिकोण का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने में सक्षम है।

भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को केवल प्रवाह न मानकर उसको सोद्देश्य माना था और उसका ध्येय तथा गन्तव्य निश्चित किया था। जीवन को सार्थक बनाने के लिए उन्होंने चार पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की कल्पना की थी जिनमें प्रथम तीन पुरुषार्थ साधन रूप से तथा अंतिम साध्य रूप से व्यवस्थित था। मोक्ष रूप साध्य हेतु जीवन का विकास और परिपक्वता आवश्यक है। और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय विद्वानों ने आश्रम संस्था की व्यवस्था की। प्राचीन मनीषियों के अनुसार, जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मानव जीवन अनवरत आत्मशिक्षण एवं आत्मानुशासन का क्षेत्र है। इस आत्मशिक्षणमूलक जीवन–यात्रा में विश्राम स्थल के रूप में चार आश्रमों का विधान किया गया है। आश्रमों की यह व्यवस्था मनुष्य को वास्तविक अर्थ में पूर्णप्राय मनुष्य बनाकर समाज को अपने उद्दिष्ट लक्ष्य तक पहुंचाने में अपूर्व योगदान करती है।

ब्रह्मचर्याश्रम : आश्रम–जीवन एक विभाग के रूप में निर्धारित समय के लिए व्यक्ति को प्रशिक्षित कर, उसे अपने आगामी जीवन के लिए प्रस्तुत करता है। इस व्यवस्था के प्रथम सोपान के रूप में स्थित ब्रह्मचर्याश्रम वह कालावधि है जहां यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचारी अपनी विभिन्न शक्तियों के विकास हेतु अनुशासनात्मक जीवन व्यतीत करता है। ब्रह्मचारी के आदर्श आचार–व्यवहार का प्रतिपादन सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र के समक्ष किया है जिसके अनुसार, शिष्य का आदि कर्त्तव्य गुरु के प्रति श्रद्धापूर्वक अभिवादनशील होना तथा मान–रोषादि से अनाविष्ट रहना है–

'शिष्यो गुरुं नित्यमभिवादयीत स्वाध्यायमिच्छेत्चिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोषमेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः'।।'

प्राण अथवा धन के द्वारा भी मन, वचन एवं कर्म से गुरु के अनुकूल एवं प्रिय आचरण

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 561/2013-14

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 661/2013-14

करना भी शिष्य का कर्तव्य है।[2] उससे यह नितान्त अपेक्षित है कि वह अपने धर्म में निरत रहता हुआ इन्द्रियजय की चेष्टा करे, सत्य और धर्म का अनुपालन करता हुआ गुरु–हित में सदैव तत्पर रहे तथा गुरु–आज्ञा के अनन्तर ही अन्न ग्रहण करे।[3]

नैतिक आदर्श के रूप में शिष्य को गुरु के प्रति सम्मान की भावना से युक्त करने हेतु गुरु के भोजन करने के उपरान्त ही भोजन करने तथा उनके शयन से पूर्व शयन न करने को भी जीवन का अंग बनाने के निर्देश हैं।[4] सेवक के समान समस्त कार्यों में निष्णात[5] तथा कोमल, दान्त, धैर्यशील, सावधानीपूर्वक कार्य करने वाला एवं स्वाध्याय में निरत ब्रह्मचारी आदर्श होता है।[6]

इस प्रकार विभिन्न नैतिक दायित्वों का अनुपालन करते हुए, आचार्य के स्नेहाश्रित अनुशासन की दीक्षा में विद्योपार्जन करने का उच्च आदर्श, भारतीय संस्कृति की अमूल्य देन है। सहस्रों वर्षों तक भारत वर्ष में ब्रह्मचर्य के महान् आदर्श का अनुसरण किया जाता रहा है, जहां सौहार्दपूर्ण वातावरण में उच्च–नीच के भाव का परित्याग कर मानव–प्रेम की सर्वोच्च दीक्षा दी जाती थी। आश्रमव्यवस्था नीतिगत आदर्शों का ज्वलन्त स्वरूप थी जहां गृहस्थ जीवन के त्याग, तपस्या एवं श्रम से युक्त कर्तव्यों के निर्वाह की दीक्षा तो प्राप्त होती ही थी, साथ ही पारलौकिक जीवन को नवदृष्टि देने के संकल्प भी पूर्ण होते थे।

गृहस्थाश्रम : ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी–जीवन की पूर्णता के पश्चात् ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है जिसे भारतीय मनीषियों ने समस्त धर्मशास्त्रों में सर्वोपरि स्थान दिया है। वस्तुतः यह ही आश्रम अन्य आश्रमों की आधारशिला है। सामाजिक कल्याण तथा तत्परक दायित्वों के निर्वहन में सर्वविध सहायक इस आश्रम की महाप्रशस्ति के रूप में रामायण की रचना के माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने गृहस्थ धर्म को महिमामण्डित किया है।

आदर्श जीवन तथा नैतिकता की ओर भारतीयों का सदा से ही अधिकतम अभिनिवेश रहा है। त्याग भावना के साथ द्रव्यार्जन करते हुए, यज्ञ–यागादि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते हुए तथा समाजिक दायित्त्व का अपनी सम्पूर्णता में निर्वाह करते हुए यह जीवन, मानव के उत्तरोत्तर विकास एवं सुख–शान्ति की उपलब्धि में पूर्ण योगदान करता है। गृहस्थ के कर्त्तव्यों का निरूपण करते हुए भीष्म पितामह का अभिमत है कि त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए, व्रतोपवास में निरत रह कर व्यक्ति को सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करना चाहिए।[7] गृहस्थ का अनिवार्य अभिप्रेत है कि वह ऋत का अनुसरण करते हुए अपने जीवन–यापन में नियमित रहे, देवताओं–पितरों को यथाविधि तथा यथाशक्ति बलि अर्पित करे, साथ ही अतिथियों, भृत्यों को भोजन कराए बिना स्वयं भोजन ग्रहण न करे।

'अमांसाषी सदा च स्यात् पवित्रं च सदा भवेत् ऋतवादी सदा च स्यान्नियतृच सदा भवेत्।
विघसाशी कथं च स्यात् सदा चैवातिथिप्रियः अमृताषी सदा च स्यात् पवित्री च सदा भवेत्।।'[8]

पितृ ऋण से मुक्ति प्राप्ति हेतु समान गुण, शील एवं वय वाली कुलवती कन्या से विवाह करके सन्तति प्राप्त करना गृहस्थ का सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। जहां ब्राह्मणों हेतु ब्राह्म विवाह की श्रेष्ठता का सन्दर्भ मिलता है, वहीं क्षत्रियों को स्वयंवर के अतिरिक्त बलपूर्वक कन्या के हरण का भी अधिकार प्राप्त था। क्षत्रियों हेतु गान्धर्व विवाह की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन किया गया है, यही कारण है कि शकुन्तला के गान्धर्व विवाह पर महर्षि कण्व कुपित नहीं हुए तथा स्वयं निर्णय दिया कि–**'क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते।'**[9] इस रूप में गृहस्थाश्रम के सन्दर्भ में भी विभिन्न नीतियुक्त दिशा निर्देश संस्कृत साहित्य में प्राप्त होते हैं।

वानप्रस्थाश्रम : सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए व्यक्ति समस्त अभिलाषाओं व आकांक्षाओं की पूर्ति कर जीवन के तृतीय विभाग रूप वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है। इस निमित्त वासनाओं का पूर्णतया परित्याग कर, इन्द्रियों का नियमन करते हुए व्यक्ति वनवासी का जीवन व्यतीत करता है। वानप्रस्थ की ओर संकेत करते हुए कालिदास का कथन है कि पृथ्वी की रक्षा के निमित्त आनन्ददायक भवनों में निवास करके वार्धक्य में

यति का व्रत धारण करते हुए वृक्षमूल में निवास कर, आत्मज्ञान की प्राप्ति में तत्पर हो जाना ही मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य है–

'भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्।।'[10]

महर्षि व्यास ने अपने मन्तव्य को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि जब गृहस्थ स्वयं को निर्बल, वृद्ध, वैक्लव्य आदि दोषों से अभिभूत अनुभव करे तथा पौत्र–सुख से संतृप्त हो, तब उसे वन का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। आश्रम में निवास करते हुए अग्निहोत्र द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना वानप्रस्थी के आह्निक कर्त्तव्यों में गण्य है। वानप्रस्थी से यह अपेक्षा भी की जाती है कि वह दूसरे के धन को ग्रहण न करे तथा एक बार किसी वस्तु का भोग करके पुनः उसे पाने की इच्छा न करे। जड़ एवं चेतन समस्त प्राणियों में समव्यवहार करे तथा न तो किसी से उद्विग्न हो, और न ही किसी को उद्विग्न करे।[11]

नीति का अनुपालन करते हुए वानप्रस्थाश्रम की सेवा करने वाले व्यक्ति को मन, वाणी एवं नेत्र आदि इन्द्रिय से कभी भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में दुराचरण नहीं करना चाहिए। कच्छप के अंगों के समान अपनी इन्द्रियों को संकुचित करके तत्त्वार्थ का ज्ञान प्राप्त कर, निस्पृह के समान आचरण करना चाहिए–

'न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत्क्वचित्।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा किंचित् दुष्टं समाचरेत्।
इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कूर्मोष्ङ्गानीव सर्वशः।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीहः सर्वतत्त्ववित् ।।'[12]

इसके अतिरिक्त उसे अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, अनसूया, इन्द्रियनिग्रह इत्यादि आठ व्रतों के पालन में भी तत्पर रहना चाहिए–

'अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च अक्रोधृचानसूया च
दमो नित्यमपैशुनम्।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्यात् व्रतेषु नियतेन्द्रियः।।'[13]

इस रूप में वानप्रस्थ के आदर्श आचरण का सम्यक् निरूपण महाभारत में यत्र–तत्र उपलब्ध होता है। तीनों वर्णों–ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने का नीतिकारों का आदेश है। वन में उपलब्ध कन्द–मूल, जलादि ही उनका भोजन होता है–

'फलमूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने।
वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते।।'[14]

अस्तु, यह स्पष्ट है कि वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति के लिए विभिन्न नैतिक आदर्शों का कथन किया गया है।

संन्यासाश्रम : जीवन के अंतिम चरण को व्यतीत करने के लिए आश्रम का जीवन अत्यन्त स्वास्थ्यपूर्ण एवं मानसिक शान्ति के लिए अत्यन्त उपयुक्त होता है। समस्त काम्य कर्मों का त्याग करने वाला, संन्यासी कहा जाता है। संन्यासी हेतु भी कतिपय विभिन्न नैतिक आदर्शों का कथन किया गया है। वाल्मीकि ने सीता के समक्ष उपस्थित होने वाले रावण का संन्यासी के रूप में चित्रण किया है–

'तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः।
अभिचक्राम वैदेहीं परिव्राजकरूपधृक्।।'[15]

संन्यासी के लिए महर्षिगण से सेवित होना, कमण्डलु एवं दक्षिण हस्त में दण्ड शोभादायक होता है।[16] अपमानित होने पर क्रोध न करने वाला तथा मान से हर्षित न होने वाला, समस्त प्राणियों को अभय देने वाला, जीवन की प्रंशसा एवं मरण की निन्दा से मुक्त और स्वामी की आज्ञा की सतत् प्रतीक्षा करने वाला ब्रह्मज्ञानी संन्यासी कहा जाता है–

'न क्रुध्येत प्रहृष्येत मानितोऽमानितृच यः।
सर्वभूतेष्वभयदत्तं देवा ब्राह्मणं विदुः।।
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ।।'[17]

आत्मज्ञान की प्राप्ति संन्यासी का प्रमुख लक्ष्य होता है। कच्छप के अंगसंकोच के समान संन्यासी को अपनी इन्द्रियाँ मन से संयत करनी चाहिए। दीपक से प्रकाशित होने वाले अन्धकारपूर्ण घर के समान बुद्धि–दीपक से आत्मप्रकाश सम्भव है।[18]

निस्सन्देह आर्य ऋषियों द्वारा आयोजित आश्रमव्यवस्था उनकी वर्णव्यवस्था की ही पूरक है। जहां वर्णव्यवस्था समाज में रहने वाले मनुष्य को सामाजिकता के अधिकारों और कर्त्तव्यों की

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 561/2013-14

ISSN No. 2347-2944 ASVP Society Reg. No. 561/2013-14

शिक्षा देकर पूर्णतया सामाजिक बनाती है, वहीं आश्रमव्यवस्था उसके आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर संकेत करती हुई उसके जीवन को सुशासित, सुव्यवस्थित तथा सुनियंत्रित बनाने की दिशा में सतत् प्रयत्नशील रहती है । भारतीय आश्रमव्यवस्था निश्चय ही उदात्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर अवलम्बित थी, जिसमें मानव हित के दृष्टिगत, आत्मा के सर्वविध विकास का लक्ष्य निहित था। व्यक्ति की सामाजिकता उसके नीति सम्बन्धी आदर्शों से विनियमित होती है। आश्रमव्यवस्था में उन उच्च आदर्शों की प्राप्ति हेतु तथा जीवन को सम्यक् रूप से उन्नत करने हेतु, विभिन्न मार्ग प्राप्त होते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है, कि नीति और आश्रमव्यवस्था एक दूसरे में गुम्फित हैं। जीवन में प्रत्येक कर्त्तव्य की सिद्धि हेतु मनुष्य को किसी न किसी वैचारिक आदर्श की प्रस्थापना करनी होती है अथवा प्रस्थापित वैचारिक आदर्शों का अनुपालन करना होता है, जो उसके व्यावहारिक जीवन को सुखमय बनाने में अपना अमूल्य योगदान प्रस्तुत करता है। आश्रमव्यवस्था में निहित जीवन इसका एक सुंदर उदाहरण है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. महाभारत, उद्योग पर्व, 44, 10।
2. वही, 44, 10।
3. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 46, 2–3।
4. महाभारत, शान्ति पर्व, 242, 21।
5. वही, 242, 18।
6. महाभारत, आदिपर्व, 91, 2।
7. महाभारत, अनुशासन पर्व, 93, 5।
8. वही, 93, 8–9।
9. महाभारत, आदिपर्व, 73, 27।
10. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7–20।
11. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 46, 35–41।
12. वही, 46, 43–44।
13. वही, 46, 29–30।
14. वही, 14, 42–43।
15. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, 46–2।
16. महाभारत, वनपर्व, 231, 42।
17. वही, 245, 14–15।
18. महाभारत, शान्तिपर्व, 326, 39।

अधीत–ग्रन्थ–माला

1. महाभारत मूल, गीताप्रेस, गोरखपुर।
2. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, प्रथमखण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर।
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम् मूल, (व्याख्याकार –डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी)।
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी।
5. संस्कृत काव्य में नीति तत्त्व डॉ0 गंगाधर भट्ट।